International Journal of Advanced Research in Engineering Technology & Science
ISSN: 2349-2819
Impact Factor: 7.10
(Peer-Reviewed, Open Access, Fully Refereed International Journal)
Email: editor@ijarets.org Volume-13, Issue-1 January – 2026 www.ijarets.org

प्राचीन भारतीय ज्ञान परंपरा में भारतीय शिक्षा दर्शन के महत्व का एक अध्ययन

डॉ0 सत्येंद्र सिंह

एसोसिएट प्रोफेसर

शिक्षाशास्त्र विभाग

राजकीय महाविद्यालय मांट, मथुरा

SSchahar11@gmail.com

सारांश, भारतीय शिक्षा दर्शन प्राचीन भारतीय ज्ञान परंपरा (गुरुकुल प्रणाली) पर आधारित है, जो केवल मूल्य नहीं है, बल्कि शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक और आध्यात्मिक विकास (समग्र विकास) पर जोर देता है। यह दर्शन सत्य, करुणा, चरित्र निर्माण और सा विद्या या विमुक्त (शिक्षा वह है जो मुक्ति दिलाए) के आदर्शों को अपनाकर एक ठोस और नैतिक व्यक्तित्व विकसित करने का प्रयास करता है। शिक्षा का लक्ष्य केवल ज्ञानार्जन नहीं, बल्कि चरित्र निर्माण और व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है। भारतीय परंपरा, उपनिषद और गीता से अहिंसा, सत्य, और संयम जैसे नैतिक सिद्धांतों को प्रमाणित करता है। शिक्षा केवल कक्षा तक सीमित नहीं है, बल्कि गुरु के सान्निध्य में जीवन जीने की प्रक्रिया है। महात्मा गांधी, विश्वनाथ टैगोर, श्री अरबिंदो और स्वामी भक्त जैसे विचारकों का प्रभाव, जो धार्मिक और आत्म–अनुभव पर जोर देते हैं। समग्र विकास के लिए आधुनिक दृष्टिकोण (NEP 2020) वर्तमान शिक्षा प्रणाली (जैसे एनईपी 2020) अब रटने के बजाय कौशल विकास और रचनात्मकता पर ध्यान केन्द्रित कर रही है। शिक्षा में अनुभवजन्य और अव्यवहारिक शिक्षण को शामिल किया जा रहा है। प्राचीन भारतीय दर्शन आज सतत विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए है, जो वसुधैव कुटुंबकम (समग्र विश्व एक परिवार) की भावना को बढ़ावा देता है। भारतीय शिक्षा दर्शन का उद्देश्य एक ऐसे नागरिक का निर्माण करना है जो न केवल सफल हो, बल्कि समाज में सकारात्मक योगदान भी दे। विश्व में जितनी भी मानव प्रवृत्तियाँ हैं उनका आधार कोई–न–कोई दार्शनिक सिद्धान्त है। जिस सार्वभौम सैद्धान्तिक आधार पर किसी कार्य के उद्देश्य, पद्धति, प्रणाली, कार्यक्रम आदि का संयोजन होता है, उस आधार को ही दर्शन कहा जाता है। वास्तव में जीवन के चिन्तन–पक्ष को दर्शन कहते हैं।

जिस प्रकार मानव–जीवन का दार्शनिक पक्ष होता है, उसी प्रकार शिक्षा का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दार्शनिक आधार है और उन्हीं दार्शनिक आधारों पर विभिन्न देशों में शिक्षा के उद्देश्य, उसकी पद्धति और उसके संघटन की व्यवस्था की गयी है। फिस्टे और ड्यूई के दार्शनिक पक्ष का समन्वय करते हुए रौस ने कहा है, ”दर्शन और शिक्षा में अन्तर नहीं है।

वे एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं। सभी वस्तुओं का तर्कपूर्ण, विधिपूर्वक, सुनियोजित ढंग से निरन्तर विचार करने को दर्शन कहते हैं।

मुख्य शब्द, शिक्षा दर्शन, सार्वभौम,उद्देश्य, पद्धति, प्रणाली, तर्कपूर्ण, विधिपूर्वक आदि।

परिचय, शिक्षा पर भी तर्कपूर्ण, विधिपूर्वक, सुनियोजित ढंग से विचार करने हेतु शिक्षा का भी दर्शन आवश्यक होता है। एडम्स के अनुसार, ”शिक्षा तो दर्शनशास्त्रं का गत्यात्मक पक्ष है। इसलिये प्रत्येक दार्शनिक विचार के अनुसार शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन भी आवश्यक है। कुछ लोगों का यह मत है कि प्रत्येक शिक्षक का स्वभावतः अपना विशिष्ट शिक्षा दर्शन होता है। शिक्षा–प्रक्रिया के सामान्य ज्ञान के अतिरिक्त उसे किसी शिक्षा दर्शन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस सामान्य ज्ञान के ही आधार पर शिक्षक शिक्षा क्षेत्र की मूलभूत समस्याओं को हल करने में समर्थ नहीं हो सकता। जो दर्शन स्वभावतः प्रत्येक शिक्षक के मस्तिष्क में विकसित होता है वह सच्चा शिक्षा दर्शन नहीं होता, क्योंकि वह समन्वयात्मक एवं समीक्षात्मक नहीं होता। दूसरी बात यह भी है कि शिक्षा दर्शन समाज के सामूहिक जीवन के अनुभवों एवं आदर्शों पर आधारित होता है। अतः शिक्षक का व्यक्तिगत शिक्षा–दर्शन मूलभूत समस्याओं को हल नहीं कर सकेगा। प्रत्येक राष्ट्र का अपना जीवन–दर्शन होता है। यह जीवन–दर्शन ही उस राष्ट्र– समाज के व्यक्तियों में समान जीवन – लक्ष्य एवं आदर्शों का निर्माण करता है तथा उन जीवनादर्शों को प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। राष्ट्र के जीवन–दर्शन पर आधारित प्रत्येक देश का अपना शिक्षा का दर्शन होता है। यही कारण है कि दार्शनिक सिद्धान्तों की विभिन्नताओं के कारण शिक्षा की समस्याओं के सम्बन्ध में दृष्टिकोणों में भी भिन्नता पायी जाती है। अन्तरराष्ट्रीय शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन में कहा गया है कि ”प्रत्येक देश में शिक्षा–व्यवस्था वहाँ की राष्ट्रीय चेतना, संस्कृति एवं परम्पराओं की सर्वोच्च अभिव्यक्ति होती है। क्योंकि कोई एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के समान नहीं होता, अतः शिक्षा की समस्याओं की व्याख्याएँ भी उतनी ही मिलती हैं जितने विश्व में देश हैं। इसी कारण इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमेरिका और रूस के शिक्षा–दर्शनों की पुस्तकों में विचित्र तथ्य देखने को मिलते हैं शिक्षा – समस्या की परिभाषाओं में लगभग एक ही जैसे शब्दों का एवं एक ही जैसी भाषा का प्रयोग किया गया है, परन्तु उनके अर्थ पूर्णतः भिन्न और परस्पर विरोधी पाये जाते हैं। सभी शिक्षा – शास्त्री सम्पूर्ण शिक्षा प्रक्रिया का केन्द्र शिक्षार्थी को मानते हैं। किन्तु पश्चिम के भौतिकवादी, शिक्षार्थी को ढलनशील स्नायविक तत्त्व मानकर उसे भौतिक वातावरण की अन्तः– प्रक्रिया में वैज्ञानिकतापूर्ण प्रकृति के आधार पर ढालना चाहते हैं। उधर आदर्शवादी लोग उसी शिक्षार्थी को पूर्णतः दैवी तत्त्व मानते हैं, जिसे इस बात की आवश्यकता है कि वह समस्त भौतिक एवं सांसारिक दासता से अपने को मुक्त कर ले। अमेरिका के प्रयोजनवादी उसी शिक्षार्थी को ऐसी अस्थायी और परिवर्तनशील प्रकृति की सामाजिक अवस्था मानते हैं जिसे इस प्रकार विकसित किया जाय कि वह वर्तमान जीवन में उपयोगी सिद्ध हो सके। प्रजातंत्रवादी देशों की सम्पूर्ण जीवन – रचना व्यक्ति – स्वातंत्र्य पर टिकी है। वैयक्तिक सम्पत्ति, समान मताधिकार, वैयक्तिक स्वातंत्र्य उसी जीवन–दर्शन के आधार हैं। बाल–केन्द्रित शिक्षा इसी की देन है। रूसो ने कहा है कि ”प्रत्येक बालक जन्म के समय निर्विकार होता है, समाज का सम्पर्क उसे दूषित बनाता है। परिणामतः व्यक्ति को समाज की तुलना में अधिक महत्त्व प्रदान करते हुए इन देशों में शिक्षा – रचना में आमूल–चूल परिवर्तन किये गये।

दूसरी ओर, पश्चिम के साम्यवादी देशों में इसके विपरीत शिक्षा का स्वरूप विकसित हुआ। वहाँ समाज केन्द्रित जीवन – रचना में व्यक्ति गौण है। व्यक्ति–स्वातंत्र्य की भावना को वहाँ विकृत अवस्था माना जाता है। बालक की रुचि, स्वभाव, जन्मजात गुण–सम्पदा का उसकी शिक्षा में महत्त्व नगण्य है। वहाँ समाज की आवश्यकतानुसार बालक के विकास की दिशा का निर्धारण होता है।

शिक्षा प्रणाली हर देश की राष्ट्रीय चेतना, संस्कृति और परंपराओं की सबसे बड़ी अभिव्यक्ति है। चूंकि कोई भी देश दूसरे देश जैसा नहीं है, इसलिए शिक्षा की समस्याओं की उतनी ही परिभाषाएँ हैं जितने दुनिया में देश हैं। लर्निंग टू बी और शिक्षा के विकास पर अंतर्राष्ट्रीय आयोग की रिपोर्ट। यह है कि विश्व के सभी देशों में शिक्षा का दर्शन वहाँ के जीवन–दर्शन का प्रतिबिम्ब होता है। अतः भारतीय शिक्षा के दर्शन के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें भारतीय जीवन–दर्शन के उन तत्त्वों को स्पष्ट करना होगा, जो इस सनातन राष्ट्र जीवन को एकसूत्रबद्ध किये हुए हैं। दुर्भाग्यवश आज भारतवर्ष में शिक्षा का विचार होते समय इस तथ्य की घोर उपेक्षा की जाती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् से लेकर आज तक भारतीय शिक्षा का दर्शन निश्चित नहीं हो सका। उसका मूल कारण यह है कि यहाँ के राजनेताओं ने यहाँ के सनातन राष्ट्रीय जीवन–दर्शन की उपेक्षा की, किन्तु वे नवीन जीवन–दर्शन प्रस्थापित नहीं कर सके। आज भारत के समाज जीवन में शून्य दिखाई दे रहा है। इस समय देश की स्थिति को देखकर एवं राजनायकों की चिन्तन – प्रक्रिया को दृष्टिगत रखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो भारतवर्ष का अपना कोई निश्चित जीवन–दर्शन ही नहीं है। हम समाजवाद का नारा लगाते हैं। साथ ही लोकतंत्र में आस्था व्यक्त करते हैं। एक ओर देश की आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिये विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्रीयकरण (वास्तव में सरकारीकरण) की ओर बढ़ रहे हैं, दूसरी ओर व्यक्तिगत स्वातंत्र्य में विश्वास प्रकट करते हैं। हम प्राचीन भारतीय संस्कृति की प्रशंसा करते हुए थकते नहीं हैं, परन्तु व्यवहार में प्रगति के नाम पर घोर भौतिकवादी नीतियाँ अपनाते जा रहे हैं। इस सिद्धान्तहीन राजनीति ने देश को आस्थाहीन बनाकर घोर विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है।

भारतीय शिक्षा भी दिशाहीन है। यहाँ के शिक्षाशास्त्री, जिनके हाथों में आज शिक्षा की बागडोर है, समस्याओं के समाधान– हेतु भारत के बाहर के देशों की ओर देखते हैं। कार्यानुभव का विषय हो, अथवा बहु–उद्देश्यीय विद्यालय योजना या पड़ोसी विद्यालय (कॉमन स्कूल्स) की कल्पना हो, इन्होंने रूस, ब्रिटेन एवं अमेरिका का अनुकरण मात्र किया है। यहाँ के समाज की प्रकृति एवं संस्कृति का इन शिक्षाशास्त्रियों ने कोई विचार ही नहीं किया। उसी का परिणाम है कि आज का तथाकथित शिक्षार्थी एवं शिक्षक दिशाहीन एवं बिना पतवार की नौका के समान भटकते हुए दिखाई दे रहे हैं। भारतीय शिक्षा दर्शन की आवश्यकता पर बल देते हुए डा० सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता में भारत सरकार द्वारा नियुक्त श्भावात्मक एकता समितिश के प्रतिवेदन में कहा गया है।

भारतीय शिक्षा दर्शन के अध्ययन की इतनी उपेक्षा हुई है कि अनेक लोग इसके नाम तक से अपरिचित हैं। सरकार ने तो इसकी आवश्यकता ही आज तक अनुभव नहीं की और न इस विषय पर अपना अभिमत ही स्पष्ट किया है। जहाँ तक हमें ज्ञात है, केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारों द्वारा नियुक्त किसी शिक्षा – आयोग अथवा समितियों में से केवल

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने इस विषय का उल्लेखनीय सन्दर्भ दिया है। प्रतिवेदन में कहा गया है कि शिक्षा–दर्शन उन दार्शनिक मान्यताओं का योग है जो शिक्षार्थी के पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करने में शिक्षण को प्रभावी बनाते हैं। अन्यथा शिक्षार्थी विद्यालय अथवा कालेज छोड़ने के पश्चात् जीवन – सागर में बिना पतवार की नौका के समान शिक्षा का भार ढोता हुआ अपने को पायेगा यह सत्य है कि विदेशी शासनकाल में तथा स्वाधीन भारत में शिक्षा दर्शन की उपेक्षा की गयी है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि भारतीय राष्ट्र–जीवन में शिक्षा–दर्शन पर पहले कभी विचार नहीं हुआ। तथ्यों के आधार पर विद्वानों का यह मत है कि जीवन के विभिन्न पक्षों पर, विशेष रूप से शिक्षा पर, जितना गहन एवं सूक्ष्म चिन्तन इस देश में हुआ है उतना विश्व के किसी देश में नहीं हुआ। प्राचीन इतिहास में शिक्षा दर्शन भरा पड़ा है। इस शिक्षा – दर्शन के आधार पर देश–भर में शिक्षा–संस्थाओं एवं विद्यापीठों का विकास हुआ। गुरुकुल आश्रमय ऋषिकुल, आचार्य–कुल तथा नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमशिला आदि विश्वविद्यालयों के नाम शिक्षा के इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में अंकित हैं। इनकी शिक्षा–व्यवस्था एवं शिक्षा पद्धति आधुनिक शोधकर्ताओं के लिए आश्चर्य के विषय बने हुए हैं। प्रायः सभी शिक्षा शास्त्रियों का मत है कि प्राचीन भारत के शिक्षा–दर्शन के शाश्वत सिद्धान्त अर्वाचीन भारत की शिक्षा के लिये भी उतने ही सार्थक तथा सुसंगत हैं।

शिक्षा के दर्शन की पढ़ाई को पिछले समय में इतना नजर अंदाज किया गया है कि बहुत से लोग इसके नाम से भी अनजान हैं। सरकार ने अब तक इस मामले में अपना रुख तय करने की जरूरत महसूस नहीं की है और जहाँ तक हमें पता है। केंद्र या राज्य सरकारों द्वारा नियुक्त सभी कमीशन और कमेटियों में से, सिर्फ यूनिवर्सिटी ऐजुकेशन कमीशन ने ही इसका जिक्र किया है। इसलि,, शिक्षा का दर्शन उन सभी दार्शनिक मान्यताओं का कुल योग है जो जरूरी हैं अगर पढ़ाई को छात्र की पूरी पर्सनैलिटी को विकसित करने में असरदार बनाना है। नहीं तो वह स्कूल और कॉलेज से सीखने का भारी बोझ लेकर निकलेगा और जिंदगी के सागर में खुद को बिना पतवार के पार नही कर पाऐगा।

प्राचीन भारत का शिक्षा दर्शन

प्राचीन भारत का शिक्षा दर्शन आदर्शवादी शिक्षा–दर्शन माना जाता है। किन्तु आदर्शवाद के सिद्धान्त का जो स्वरूप यूरोप में प्रचलित हुआ उससे भारतीय आदर्शवाद का सिद्धान्त पूर्णतः भिन्न है। भारतीय शिक्षा का आदर्शवाद छात्र को केवल किसी विशेष सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा देना मात्र ही पर्याप्त नहीं समझता था, अपितु वह संस्कारों के माध्यम से आदर्श के अनुरूप जीवन–गठन की व्यवस्था थी। भारतीय जीवन का सनातन आदर्श आध्यात्मिकता है। गुरुकुल में रहकर छात्र ब्रह्मचर्य आश्रम पूर्ण करता था। उसके पूर्ण जीवन शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा का विकास संस्कारों की पद्धति से होता था। उपनयन संस्कार के साथ छात्र गुरुकुल आश्रम में प्रवेश करता था। इन गुरुकुलों का जीवन तथा गुरु और शिष्यों का सम्बन्ध इतना उदात्त और आदर्श था कि उस जीवन–पद्धति में पलने वाले सभी छात्र अत्यन्त तेजस्वी, विद्यावान, बुद्धिमान और चरित्रवान होते थे।

ब्रह्मचर्य आश्रम तपस्यापूर्ण जीवन होता था। उन्हें प्रारम्भ से ही पवित्रता, आचार, अग्नि– कार्य और सन्ध्योपासना की शिक्षा दी जाती थी। वे शिष्य थोड़े से वस्त्र पहनकर, जितेन्द्रिय होकर विद्या प्राप्त करते थे। जो ब्रह्मचारी समावर्तन

तक अग्नि की सेवा, भिक्षाचरण, पृथ्वी पर शयन, गुरु की सेवा और उनका हित करता था, वही श्रेष्ठ ब्रह्मचारी माना जाता था। राजा के पुत्र से निर्धन परिवार तक के सभी ब्रह्मचारी छात्र भिक्षाटन के लिये नित्य जाते थे। गृहिणी माताएँ उन ब्रह्मचारियों की प्रतीक्षा करती थीं और पुत्रवत् स्नेह एवं आदरपूर्वक उन्हें भिक्षा प्रदान करती थीं, क्योंकि उस समय उनके हृदय में यह भाव उमड़ता था कि हमारा पुत्र भी इसी प्रकार किसी अन्य गृहिणी माता से भिक्षा की याचना कर रहा होगा। ब्रह्मचारी का बड़ा सम्मान किया जाता था। यह एक सामान्य शिष्टाचार था कि यदि राजा और स्नातक छात्र, दोनों आमने–सामने चले आ रहे हों तो राजा ही हटकर स्नातक ब्रह्मचारी को मार्ग देता था। स्नातक होने पर विद्यार्थी गुरु की आज्ञा से गुरुकुल आश्रम छोड़ते थे और जाते समय गुरु–दक्षिणा भेंट करते थे। पराविद्या (ब्रह्मविद्या) और अपरा विद्या (लौकिक विद्या), दोनों विषयों का ज्ञान प्राप्त कर, शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा के विकास से परिपूर्ण हो भावी जीवन के लिए पूर्ण सिद्ध होकर स्नातक, समाज के सुयोग्य नागरिक के रूप में राष्ट्र जीवन को समुन्नत करने का व्रत लेकर गुरुकुल आश्रम 25 वर्ष की आयु पूर्ण करके छोड़ते थे और गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। गुरुकुल में जो छात्र 24 वर्ष तक अध्ययन करते थे उन्हें वसु, जो 36 वर्ष तक अध्ययन करते थे उन्हें रुद्र तथा जो 48 वर्ष की आयु तक अध्ययन करते थे उन्हें आदित्य कहा जाता था। श्री ए० एस० अल्तेकर ने प्राचीन भारतीय शिक्षा के विषय में लिखा है। ″ईश्वर भक्ति, धार्मिक भावना, चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक एवं सामाजिक कर्त्तव्य का पालन, सामाजिक कुशलता की उन्नति तथा राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रसार प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्य थे।

प्राचीन भारतीय शिक्षा का प्रधान लक्ष्य छात्रों को परम तत्त्व का ज्ञान कराना था परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में वे पीछे थे। तक्षशिला विश्वविद्यालय में वेद–वेदांगों के पाठ्यक्रमों के अतिरिक्त चिकित्सा एवं शल्यक्रिया विज्ञान, नक्षत्र – विद्या, ज्योतिष, कृषि विज्ञान, गणित, धनुर्विद्या आदि विषयों की शिक्षा की व्यवस्था थी। नालन्दा विश्वविद्यालय में भी 1000 आचार्य, 9000 छात्रों को सभी प्रकार के ज्ञान–विज्ञान की शिक्षा प्रदान करते थे। इसी प्रकार काठियावाड़ में वल्लभी, दक्षिण में कांची, बिहार में विक्रमशिला और ओदन्तपुरी, बंगाल में नदिया विश्वविद्यालय ज्ञान – विज्ञान के केन्द्र थे। प्राचीन भारत में अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हुए। यहाँ गणितविद्या एवं यंत्रविद्या की नींव डाली गयी, भूमि का माप किया गया, वर्ष के विभाग किये गये, आकाश के मानचित्र तैयार किये गये, सूर्य एवं अन्यान्य ग्रहों के राशिमण्डलीय परिधि के भीतर घूमने के मार्ग का परिशीलन किया गया, प्रकृति की रचना का विश्लेषण किया गया और पक्षियों, पशुओं, पेड़–पौधों एवं बीजों आदि का अध्ययन किया गया। कोपर्निकस से कम से कम 2000 वर्ष पूर्व भारतीय वैज्ञानिकों ने पृथ्वी द्वारा अपनी धुरी पर चक्कर लगाने और रात–दिन होने के कारण का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। छान्दोग्य उपनिषद् में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है रू ″सूर्य न तो कभी अस्त होता है और न कभी उदय। जब लोग सोचते हैं कि सूर्य अस्त हो रहा है, तब वह केवल परिवर्तन में आता है। दिन के अन्त में नीचे के भाग में रात हो जाती है और दूसरी ओर दिन हो जाता है। फिर जब लोग सोचते हैं कि सूर्य उदित हो रहा है, तब वह केवल रात्रि के अन्त में पहुँचकर फिर परिवर्तन में आ रहा होता है और नीचे के भाग में दिन और दूसरे भाग में रात कर देता है। वस्तुतः सूर्य कभी अस्त नहीं होता। प्राचीन भारत में चन्द्रमा और सूर्य की गतियों का बहुत सूक्ष्म अध्ययन किया गया

था। बीजगणित का आविष्कार हिन्दुओं ने किया और उसका प्रयोग ज्योतिष शास्त्र एवं ज्यामिति में भी हुआ । अरबवासियों ने भी बीजगणित के विश्लेषक विचारों को और उन अमूल्य अंक सम्बन्धी चिह्नों और दशमलव के विचारों को, जिनका आज यूरोप में सर्वत्र प्रचलन है और जिनके कारण गणित विद्या ने अद्भुत उन्नति की है, भारतवासियों से ग्रहण किया। इसी देश ने अति प्राचीनकाल में तर्कशास्त्र एवं व्याकरण को जन्म दिया और उनका विकास किया। वह प्राचीन भारत की शिक्षा का ही परिणाम था कि भारतवासियों ने भौतिक विज्ञान के अतिरिक्त कलाओं– ललित एवं औद्योगिक कलाओं का विकास किया। उनके जहाज समुद्र पार करते थे तथा व्यापार अरब, मिस्र और रोम तक फैला हुआ था ।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि प्राचीन भारत में शिक्षा केवल अध्यात्मविज्ञान तक सीमित नहीं थी। उसका क्षेत्र व्यापक था। अपनी उत्तम शिक्षा–व्यवस्था के कारण ही प्राचीन भारत भौतिक विज्ञानों, कलाओं एवं औद्योगिक क्षेत्र में विश्व में अग्रणी देश माना जाता था वह विश्वगुरु के पद पर आसीन था ।

आदर्शवादी प्रत्ययवादी शिक्षा–दर्शन

पश्चिम में शिक्षा क्षेत्र में कमेनियस को आदर्शवाद के जन्मदाताओं में माना जाता है, किन्तु दर्शन में आदर्शवाद (प्रत्ययवाद) सुकरात और प्लेटो के विचारों में अधिक झलकता है। पेस्तालाजी और फ्रोवेल ने भी शिक्षा में आदर्शवादी दृष्टिकोण उपस्थित किया है। आदर्शवादियों के अनुसार मानव ईश्वर की सबसे अधिक महान् और सुन्दर कृति है, इसलिये शिक्षा का लक्ष्य मानव–व्यक्तित्व का विकास है। इसके लिये उन विशिष्ट विषयों के शिक्षण पर अधिक बल दिया जाना चाहिए जो मानव – सुलभ हैं, जैसे– साहित्य, संगीत, कला, धर्म, आचार शास्त्र इत्यादि। शिक्षा का लक्ष्य आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत को पीढ़ी दर पीढ़ी बनाये रखना है। अन्य आदर्शवादियों ने शिक्षा के लक्ष्य को आत्मबोध अथवा आत्म साक्षात्कार के रूप में प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार प्रत्येक मनुष्य जन्म से ही सुप्तावस्था में दैवी गुणों को लिये हुए रहता है। शिक्षक को इन्हीं का विकास करना है। फ्रोवेल के शब्दों में शिक्षा का लक्ष्य एक आस्थामय, शुद्ध, अभंजनीय और इसलिये पवित्र जीवन का साक्षात्कार है। शिक्षा को अपने प्रति और अपने में स्पष्टता की ओर निर्देशित करना चाहिए, जिससे वह प्रकृति का सामना कर सके और ईश्वर से एकता स्थापित कर सके।

शिक्षा में आदर्शवाद (प्रत्ययवाद) का उदाहरण प्लेटो का शिक्षा दर्शन है। प्राचीन यूनानी दार्शनिकों में प्लेटो ने शिक्षा क्षेत्र को सर्वाधिक प्रभावित किया है। प्लेटो द्वारा रचित पुस्तकों में द रिपब्लिक का शिक्षाशास्त्र के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्लेटो के अनुसार, "शिक्षा का उद्देश्य सत्य का साक्षात्कार है और वह सत्य एकांगी नहीं, बल्कि सर्वांग है। अतः वह शरीर, मस्तिष्क और आत्मा–सभी के विकास को आवश्यक मानता है। यूरोप में 16वीं एवं 17वीं शताब्दी में शिक्षा के क्षेत्र में जान एमोस कमेनियस, पेस्तालाजी, हरबर्ट एवं फ्रोवेल के नाम प्रमुख रूप से लिये जाते हैं। आदर्शवादियों ने शिक्षा के लक्ष्य और उद्देश्यों की स्थापना की, उसकी पद्धतियों और विधियों की नहीं। यही कारण है कि उनके विचार केवल आदर्श बनकर रह गये, व्यवहार में दिखाई नहीं दिये।

भारतीय दर्शन में पूर्ण मानवता के विकास का लक्ष्य स्थिर किया गया और उसके अनुसार सम्पूर्ण भारतीय शिक्षा–व्यवस्था स्थापित की गयी। यूरोपीय आदर्शवादियों का इस ओर ध्यान नहीं गया। उनके विचार केवल दर्शनशास्त्र के अध्ययन के

विषय मात्र बनकर रह गये। भारतीय शिक्षा के आचार्यों ने आदर्शों को जीवन में प्रस्थापित किया। नालन्दा विश्वविद्यालय के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसके अस्तित्व के 800 वर्षों के जीवन में एक भी घटना ऐसी नहीं हुई जब किसी छात्र को किसी भी प्रकार के नैतिक अपराध के लिये दण्ड देने की आवश्यकता पड़ी हो।

प्रकृतिवादी शिक्षा दर्शन

प्रकृतिवादी दार्शनिक – प्रकृतिवाद का प्रारम्भ अति प्राचीनकाल से मानते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि प्रकृतिवाद को महत्त्व अठारहवीं शताब्दी में मिला। इस शताब्दी में आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण क्रान्तियाँ हुई, जिनसे इन क्षेत्रों में विचारों का रूप मध्यकाल से बिल्कुल बदल गया। इस क्रान्ति का केन्द्र फ्रान्स था। यहाँ पर परम्पराओं और रूढ़िगत संस्थाओं के प्रति तीव्र विद्रोह हुआ। इसी विद्रोह का एक रूप शिक्षा की कृत्रिम पद्धतियों के प्रति भी था। फ्रांस में इस क्रान्ति के प्रणेता वाल्टेयर और रूसो माने जाते हैं। इनमें से रूसो ने फ्रान्स की जनता को अधिक प्रभावित किया। रूसो ने शिक्षा क्षेत्र में प्रकृति का समर्थन कर महान क्रान्ति की। रूसो ने अपनी पुस्तक एमील में शिक्षा–व्यवस्था की आदर्श रूपरेखा प्रस्तुत की। उसका मत था कि बालक के समुचित विकास के लिये उस पर से समस्त बन्धन हटा लेने चाहिए और उसकी स्वाभाविक प्रकृतियों को स्वतन्त्र रूप से खुलकर सामने आने का अवसर देना चाहिए। उसने कहा कि बालक का विकास भीतर से प्राकृतिक प्रक्रिया के अनुसार होना चाहिए, बाहर से लादे जाकर नहीं। रूसो ने स्पष्ट किया कि शिक्षा न तो अध्यापक केन्द्रित होनी चाहिए और न पुस्तक– केन्द्रित, वरन् वह बाल–केन्द्रित होनी चाहिए और इसके लिये प्रकृति के तथ्य और दृश्य ही वास्तव में शिक्षा की सामग्री हैं। रूसो ने उस समय फ्रान्स में प्रचलित शिक्षा–पद्धति का उग्र विरोध किया और उसका पूर्णतरू निषेध करने की सलाह दी। वह सभी प्रकार की विधायक शिक्षा के विरुद्ध था और निषेधात्मक शिक्षा को उपयुक्त मानता था। रूसो के अतिरिक्त प्रकृतिवादी शिक्षा– दार्शनिकों में हरबर्ट स्पैन्सर, सैमुएल बटलर, बर्नाड शॉ, टी० एस० हक्सले, टी० पी० नन के नाम प्रमुख रूप से लिये जाते हैं। वास्तव में प्रकृतिवाद किसी निश्चित दार्शनिक विचार के रूप में मान्य नहीं है। इसके समर्थकों में परस्पर विरोध दिखाई देता है। स्वयं प्रकृतिवाद का कोई निश्चित अर्थ नहीं है, उसे अनेक अर्थों में लिया जाता है। किन्तु शिक्षा के क्षेत्र में प्रकृतिवाद के महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। उसने शिक्षा–प्रणाली, पाठ्यक्रम, विद्यालय – संगठन, अनुशासन की स्थापना आदि क्षेत्रों में उपयोगी सिद्धान्त उपस्थित किये हैं। प्रकृतिवाद का महत्त्व शिक्षण विधि के क्षेत्र में अधिक है, विचारधारा के रूप में यह एकांगी है। इसने मानव को केवल यन्त्र अथवा जैविकीय माना है। प्रकृतिवादियों ने अध्यापक की पूर्ण उपेक्षा करके शिक्षा के मूल तत्त्व की ही उपेक्षा कर दी है। यद्यपि बालक पर दबाव नहीं पड़ना चाहिए और उसके स्वतन्त्र विकास तथा उसकी स्वतन्त्र क्रिया में हस्तक्षेप भी नहीं होना चाहिए, तथापि उसका सम्पूर्ण व्यवहार व्यवस्थित रूप से निर्दिष्ट होना आवश्यक है।

शिक्षा में प्रयोजनवाद

आदर्शवाद और प्रकृतिवाद के मध्यम मार्ग के रूप में शिक्षा का नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ, जिसका नाम प्रयोजनवाद या फलवाद (प्रैग्मेटिज्म) रखा गया। इस दार्शनिक सिद्धान्त के प्रमुख प्रवर्तक विलियम जेम्स ने भी इसे आदर्शवाद और

प्रकृतिवाद का मध्यम मार्ग माना है। इस दार्शनिक सिद्धान्त के अन्य समर्थकों में शिलर और जॉन ड्यूई अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। यह सिद्धान्त वास्तव में अमरीकी दार्शनिक सिद्धान्त है। यूरोप के अनेक देशों के लोग अमेरिका में जाकर बसे। इन विविधतापूर्ण प्रवासियों का कोई अपना दार्शनिक मत या सिद्धान्त नहीं था। ये सब लोग भौतिक सुख–सुविधा के उद्देश्य से वहाँ जाकर वसे थे। धीरे–धीरे इनमें एक राष्ट्र की भावना जाग्रत हुई तथा जीवन को व्यवस्थित बनाने के लिये जीवन–दर्शन की आवश्यकता अनुभव हुई। अतः इन यूरोपवासियों ने अपने अनुभव से प्राप्त ज्ञान के एवं उपयोगितावाद के आधार पर अपना जीवन–दर्शन विकसित कर लिया, जिसका नाम प्रयोजनवाद (प्रैग्मेटिज्म) पड़ा। इस दार्शनिक मत का मुख्य सिद्धान्त यही है कि मनुष्य अपने आदर्श की स्वयं सृष्टि करता है। शाश्वत जैसी कोई निश्चित वस्तु नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुयायी कहते हैं कि हमारा कोई भी निर्णय तभी सत्य हो सकता है जब उसका परिणाम जीवन के लिये सन्तोषप्रद हो। उनका कथन है कि चिन्तन की सभी प्रणालियाँ परिस्थिति – सापेक्ष और व्यक्ति – सापेक्ष हैं। दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक सिद्धान्तों का मूल्य उनकी उपयोगिता से आँका जाना चाहिए। यदि सिद्धान्त उपयोगी है तो वह सत्य भी है। अतः जीवन के लक्ष्य और मूल्य देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार सदैव परिवर्तित होते रहते हैं, वे कभी भी शाश्वत नहीं हो सकते। यह दर्शन व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अधिक महत्त्व देता है। उसके अनुसार व्यक्ति को परिवेश से समन्वय करना चाहिए। धर्म, नीति, अध्यात्म और विज्ञान, सभी व्यक्ति और परिवेश के समन्वय के साधन हैं। प्रयोजनवाद (फलवाद) प्रयोगवाद है। यह प्राचीन रूढ़ियों को विचारों से अधिक महत्त्व देता है। वह मानता है कि व्यक्ति को स्वयं प्रयोग करके सत्यों का पता लगाना चाहिए। इस प्रयोजनवादी शिक्षा दर्शन का सबसे बड़ा व्याख्याता जॉन ड्यूई माना जाता है। उसने शिक्षा दर्शन एवं शिक्षा मनोविज्ञान पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। ड्यूई के अनुसार शिक्षा का एकमात्र लक्ष्य बालक की शक्तियों का विकास है। वह विकास किस प्रकार होगा, इसके लिये कोई सामान्य सिद्धान्त निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि भिन्न–भिन्न रुचियों और योग्यताओं के बालकों में विकास भिन्न–भिन्न प्रकार से होता है। ड्यूई शिक्षा के लक्ष्य को भी उन्मुक्त छोड़ देना चाहता है, क्योंकि यदि लक्ष्य पहले से निश्चित कर लिया जायेगा तो बालक को उसी ओर ले जाने का प्रयत्न किया जायेगा, जो हानिप्रद है। शिक्षा बालक के लिये है, बालक शिक्षा के लिये नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य ष्ऐसा वातावरण तैयार करना है जिसमें प्रत्येक बालक को समस्त मानव जाति की सामाजिक जागृति में सक्रिय रहकर योगदान करने का अवसर मिले।" ड्यूई ने प्रगतिशील विद्यालय की स्थापना की, जिसका उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का विकास करना और शिक्षा द्वारा जनतन्त्र को स्थापित करना था। समाज का लघु रूप मानकर ड्यूई ने विद्यालय में उन सभी क्रियाओं को लघु रूप में किये जाने का समर्थन किया है जो बालक को बड़े होकर विद्यालय के बाहर करनी पड़ती हैं। प्रयोग प्रणाली (प्रोजेक्ट मेथड) शिक्षा – क्षेत्र में इस प्रयोजनवाद का सबसे बड़ा वरदान है।

ड्यूई के शिक्षा – सिद्धान्तों का सर्वत्र स्वागत हुआ है, किन्तु अनेक विचारकों ने उनकी आलोचना भी की है। सत्य को स्थायी न मानना, विशुद्ध भौतिकवादी दृष्टिकोण, शिक्षा में लक्ष्य का अभाव आदि उसके सिद्धान्त स्वीकार– योग्य नहीं हैं।

यथार्थवादी शिक्षा दर्शन

यूरोप में आदर्शवाद के अतिरेक से जीवन का वास्तविक रूप इतना असम्बद्ध और विच्छिन्न हो गया था कि आदर्शवाद के द्वारा स्थापित और समर्थित आदर्शों तक पहुँच पाना जीवन के किसी क्षेत्र में भी सम्भव नहीं रह गया था। स्वभावतः इस निरर्थक, अव्यावहारिक और कृत्रिम आदर्शवाद से लोग उकता उठे थे। दूसरी ओर विज्ञान के क्षेत्र में इतने वेग से उन्नति हो रही थी कि नये–नये वैज्ञानिक अन्वेषणों और अनुसन्धानों के द्वारा जहाँ मनुष्य के ज्ञान का संवर्धन हो रहा था, वहीं अनेक प्रकार की जीवन– सुविधाएँ भी प्राप्त हो रही थी। अतः स्वभावतः लोगों ने आदर्शवाद के काल्पनिक चिन्तन–क्षेत्र से हटकर प्रत्यक्ष ज्ञान–विज्ञान और अनुभव की ओर प्रवृत्त होना प्रारम्भ कर दिया। इसी में से यथार्थवाद नामक दार्शनिक सिद्धान्त का जन्म हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओं की ही यथार्थ सत्ता है, अर्थात् जो कुछ हम देखते हैं, अथवा इन्द्रियों से अनुभव करते हैं, वही सत्य है। इस प्रकार यथार्थवादी भौतिक जड़ जगत् को यथार्थ मानते हैं। वे वास्तविक, व्यावहारिक और लौकिक जीवन को अधिक महत्त्व देते हैं। इनके अनुसार वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञान से स्वतन्त्र है। हमारा ज्ञान ज्ञेय को प्रभावित नहीं करता। यूरोप में पुस्तकीय शिक्षा का अत्यधिक प्राबल्य था। उसके विरोधस्वरूप यथार्थवादी शिक्षा–पद्धति का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। इन शिक्षाशास्त्रियों का मत था कि पुस्तकीय शिक्षा से बालकों को जितना भी ज्ञान दिया जाता है वह सब निरर्थक और अव्यावहारिक होता है। अतः बालकों को इस प्रकार और ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे उनको अपने परिवेश और वातावरण का ठीक–ठीक ज्ञान हो सके। यथार्थवादी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है बालक को वातावरण से परिचित कराना, जिससे वह वास्तविक जीवन के लिये तैयार हो सके। इन शिक्षाशास्त्रियों का मत है कि बालकों को किसी–न–किसी प्रकार की व्यावसायिक शिक्षा दी जाये जो आगे चलकर उनकी जीविका का आधार बन सके। यथार्थवादी शिक्षा की तीन प्रमुख धाराएँ मिलती हैं– मानवतावादी यथार्थवाद, सामाजिक यथार्थवाद और इन्द्रियानुभवाश्रित यथार्थवाद। यथार्थवादी शिक्षाशास्त्रियों में रावले, जॉन मिल्टन, लॉक, फ्रॉन्सिस बेकन प्रमुख रूप से प्रसिद्ध हैं। यथार्थवाद वास्तव में कोई दर्शन अथवा सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि दार्शनिक मीमांसा केवल वहीं सम्भव है जहाँ किसी वस्तुतत्त्व या पदार्थ के परोक्ष या अप्रत्यक्ष की मीमांसा की जाये। यथार्थ तो प्रत्यक्ष का ही दूसरा नाम है, इसलिये यथार्थ के दार्शनिक पक्ष की न कोई आवश्यकता है और न उसकी दार्शनिक व्याख्या ही सम्भव है। इसलिये बहुत से विद्वान् यथार्थवाद को कोई दार्शनिक वाद नहीं मानते।

भारतीय एवं पाश्चात्य शिक्षा दर्शन में अन्तर

पाश्चात्य शिक्षा – दर्शनों के उपर्युक्त विवेचन से एक बात तो यह स्पष्ट होकर सामने आती है कि अधिकांश पाश्चात्य शिक्षा दर्शन विशिष्ट परिस्थितियों की उपज हैं अथवा किसी परिस्थिति के विरोधस्वरूप उनका जन्म हुआ है। प्रकृतिवादी दर्शन उस शिक्षा के विरोधी आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ जो धर्म और अध्यात्मवाद की शुष्क जटिलताओं से लदी थी। अठारहवीं शताब्दी के सामाजिक आदर्श और व्यवस्थाएँ सड़–गलकर निःसार हो चुकी थीं। उस कृत्रिम रूढ़िवाद के विरोध में यह दर्शन प्रकृतिवाद के नाम से उठ खड़ा हुआ। इसी प्रकार यथार्थवाद का जन्म उस समय हुआ जब यूरोप की सम्पूर्ण शिक्षा मौखिक, काल्पनिक और पुस्तकाश्रित हो चुकी थी। उस समय शिक्षा को यथार्थवादी बनाने का यही

अभिप्राय था कि शिक्षा–प्रक्रिया में जीवन के प्रत्यक्ष और व्यावहारिक पक्ष को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाये। अमेरिका का प्रयोजनवादी शिक्षा–दर्शन (प्रैग्मेटिज्म) वहाँ की विशिष्ट परिस्थिति की उपज है। यूरोप के विभिन्न देशों से भिन्न–भिन्न विचारधाराओं के लोग अमेरिका में जाकर बसे। स्थायी रूप से बसने के पश्चात् सब मिलकर एक नवीन जीवन का रूप खड़ा हुआ जो पूर्णतरू आदर्शविहीन था। उसका एक ही लक्ष्य था कि जीवन को भौतिक सुख–सुविधाओं से कैसे सम्पन्न बनाया जाये और जो इस लक्ष्य की प्राप्ति में उपयोगी हो उसे अपना लिया जाये। यही उनके जीवन का सिद्धान्त बन गया और उसी में से प्रयोजनवादी दर्शन का विकास हुआ जो शिक्षा का भी दर्शन बना। आदर्शवाद की भी लगभग यही स्थिति है। सृष्टि के गूढ़ रहस्यों से प्रभावित होकर इस विचार ने जन्म लिया कि इस आश्चर्यजनक सृष्टि का जनक कोई परम शक्तिशाली तत्त्व है जो इसका संचालन कर रहा है। इस कल्पना में से धर्म और उपासना की अनेक संस्थाओं ने जन्म लिया। परन्तु ये संस्थाएँ अथवा आदर्शवादी विचारक कल्पना में अधिक रहे। मानव जाति को कोई आदर्श जीवन की स्थायी व्यवस्था वे नहीं दे सके, जिससे जीवन का व्यवहार आदर्शों एवं विचारों के अनुरूप बन सके। इस कारण यह दर्शन रूढ़िवाद बनकर रह गया, जो कालान्तर में उखाड़कर फेंक दिया गया। दूसरी बात इन पाश्चात्य दर्शनों के विवेचन से यह प्रकट होती है कि इन दर्शनों में जीवन का टुकड़ों–टुकड़ों में विचार हुआ है। जीवन का समग्र विचार किसी दर्शन में नहीं हुआ। उसके एक–एक पक्ष को आधार बनाकर विभिन्न नामों से दर्शन प्रकट हुए। ये तात्कालिक परिस्थितियों के विरोधस्वरूप खड़े हुए थे, अतः उन परिस्थितियों से जकड़े हुए अथवा ऊबे हुए लोगों को इन दर्शनशास्त्रियों के विचारों ने प्रभावित किया।

निष्कर्ष, भारतीय दर्शन के विषय में यह देखने को मिलता है कि उसका जन्म किसी परिस्थितिवश अथवा किसी परिस्थिति के विरोध स्वरूप नहीं हुआ। मानवीय बुद्धि एवं जीवनानुभवों के विकास क्रम के साथ इसका विकास हुआ है। साथ ही भारतीय चिन्तन में जीवन का समग्र रूप समाविष्ट मिलता है। मनीषियों ने जीवन के सत्यों का आविष्कार अनुभूति के आधार पर, शुद्ध वैज्ञानिक ढंग से किया और वे सत्य मानव के जीवन–व्यवहार में प्रकट हो सकें, इसके लिये समाज में एवं व्यक्ति के जीवन में व्यवस्थाओं का निर्माण किया। यही कारण है कि भारतीय जीवन–दर्शन आज हजारों वर्ष पश्चात् भी जीवित है, यद्यपि कुछ कालखण्ड ऐसे दिखाई देते हैं जब व्यवहार में विकृतियाँ उत्पन्न हुई। उस समय सुधार आन्दोलनों के रूप में कुछ दर्शन अथवा विचारधाराएँ प्रकट हुई, परन्तु मूल चिन्तनधारा से वे जुड़े रहे। जिन विचारधाराओं ने इसका परिपालन नहीं किया, वे भारत के राष्ट्र–जीवन की मूलधारा से अलग होकर लुप्त हो गयीं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- अग्रवाल, जे. सी. (2014). शिक्षण के सिद्धांत, विधियाँ और तकनीकें (2रा संस्करण). नई दिल्ली विकास पब्लिशिंग हाउस। पृष्ठ 67
- एंडरसन, एल. डब्ल्यू., एवं क्रैथवोल, डी. आर. (2001). ब्लूम के उद्देश्यों की वर्गीकरण योजना का पुनरीक्षण. नई दिल्ली लॉन्गमैन। पृष्ठ 136

- भाटिया, के. के., एवं भाटिया, बी. डी. (2011). शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय आधार. नई दिल्ली कल्याणी पब्लिशर्स। पृष्ठ 23
- ब्लूम, बी. एस. (1956). शैक्षिक उद्देश्यों का वर्गीकरण ज्ञानात्मक क्षेत्र. नई दिल्ली लॉन्गमैन। पृष्ठ 58
- ब्रूनर, जे. एस. (1966). शिक्षण का सिद्धांत. नई दिल्ली हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस। पृष्ठ 234
- देसाई, वी. (2013). भारतीय शैक्षिक विचारक. अहमदाबाद यूनिवर्सल एजुकेशन हाउस। पृष्ठ 79
- देवे, वी. (2008). शिक्षा दर्शन. राजकोट बालमंदिर ट्रस्ट प्रकाशन पृष्ठ 56
- रामपाल. (1983). द ब्यूटीफुल ट्री 18वीं सदी में भारत की पारंपरिक शिक्षा व्यवस्था. नई दिल्ली बिब्लिया इम्पेक्स पृष्ठ 123
- दुबे, एस. सी. (2002). भारतीय समाज और शिक्षा. भोपालरू राष्ट्रभाषा प्रकाशन।
- गांधी, मोहनदास करमचंद. (1953). बेसिक एजुकेशन. अहमदाबादरू नवजीवन प्रकाशन मंदिर।
- गिजुभाई बधेका. (1922). दिवास्वप्न. अहमदाबादरू गुजरात विद्यापीठ।
- गिजुभाई बधेका. (1930). शिक्षण और बालक. अहमदाबादरू गुजरात विद्यापीठ।
- गिजुभाई बधेका. (1935). मानवीनी भावई. अहमदाबादरू गुजरात विद्यापीठ।
- गोविंदा, आर. (2002). भारत शिक्षा रिपोटर्रू प्राथमिक शिक्षा का प्रोफाइल. नई दिल्लीरू ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
- गुप्ता, आर. (2007). उभरते भारतीय समाज में शिक्षा. नई दिल्लीरू शिप्रा पब्लिकेशन्स।
- कौल, वी. (1998). बाल्यावस्था शिक्षा कार्यक्रम. नई दिल्लीरू एनसीईआरटी।
- कुमार, के. (1991). शिक्षा का राजनैतिक एजेंडारू उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद के विचारों का अध्ययन. नई दिल्ली सेज पब्लिकेशन्स।
- कुमार, के. (2007). बालक की भाषा और शिक्षक. नई दिल्लीरू नेशनल बुक ट्रस्ट।
- लाल, बी. बी. (2010). भारतीय मनोविज्ञान की नींव. नई दिल्लीरू पियरसन एजुकेशन।
- माल्होत्रा, एस. (2014). भारत की शिक्षा प्रणाली की पुनःकल्पनारू 21वीं सदी के लिए दृष्टिकोण. नई दिल्लीरू सेज पब्लिकेशन्स।
- मोंटेसरी, मारिया. (1964). मोंटेसरी विधि. नई दिल्लीरू शॉकेन बुक्स।
- मुखर्जी, एस. एन. (2005). भारत में शिक्षारू विकास की प्रक्रिया. नई दिल्लीरू स्टर्लिंग पब्लिशर्स।
- राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद. (2005). राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005- नई